



THE TIMES OF INDIA

Date: 01-08-17

Virtual shield up

Digital India will stand or fall by whether it understands and implements cybersecurity

TOI Editorials



Two academics from IIT Kanpur, who briefed a parliamentary standing committee on cybersecurity, have pointed out that risks have escalated following India's drive to digitise its economy. These risks are pronounced in the financial sector as last year's malware-related breach which led to millions of debit cards being blocked showed. This vulnerability in financial sector feeds into larger challenges of cyberwarfare and the need to secure India's critical infrastructure, which now increasingly runs on an IT foundation.

Enhancing cybersecurity should necessarily start with the financial sector as a survey showed that's where 72% of cybercrime takes place. As banks dominate this area, RBI is at the forefront of devising standards for protection. However, the IIT Kanpur study showed that the central bank is not equipped to deal with this challenge. This should worry the government as digitisation is at the heart of all financial inclusion initiatives. Therefore, government should quickly actualise finance minister Arun Jaitley's budget proposal to establish a computer emergency response team for financial sector, or Cert-Fin, to provide domain expertise and coordination in this sector. Preliminary work to establish Cert-Fin has started. But now details need to be worked out and adequate funding provided. Once this is done it will strengthen Cert-In, the national agency to enhance cybersecurity. In all of this the government has a role to play. Not only is it the largest repository of sensitive data following the Aadhaar project, it also seems lax in the matter of security. Cert-In, for instance, says as many as 164 government websites were hacked during 2015. In addition there have been other instances where government agencies have placed Aadhaar numbers in public domain.

If individuals are always vulnerable to cybercrime, nations are at risk from acts of cyberwarfare. For example, relations between Russia and US have been adversely impacted by allegations of hacking. In a modern economy powered by computer networks, there is always a threat that hackers can trigger chaos in any sector. Therefore, the briefing to parliamentarians should serve as a timely reminder that there needs to be a collective effort to enhance cybersecurity. Individual organisations can and do take precautions. But government must step up its game. Sectoral regulators and agencies such as Cert-In need to be at the vanguard of strengthening cybersecurity.



दैनिक भास्कर

Date: 01-08-17

तरक्की बनाम धर्मनिरपेक्षता का धर्मसंकट

गुरचरणदास

हममें से कुछ लोगों को चार्ल्स डिकेन्स के उपन्यास 'ए टेल ऑफ टू सिटीज' की शुरुआती पंक्तियां याद होंगी, 'यह सबसे अच्छा समय था, यह सबसे खराब समय था, यह बुद्धिमत्ता का युग था, यह मूर्खता का दौर था... आशा का वसंत था, यह हताशा की शीत ऋतु थी।' ये पंक्तियां मौजूदा भारत के विरोधाभास को भी व्यक्त करती हैं। मैं जून में माह में हुई दो घटनाओं से इसे समझाता हूं।

हमने 'सबसे अच्छे समय' का जश्न शुक्रवार 30 जून की आधी रात को मनाया, जब दूर का सपना लगने वाला वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) हकीकत बना और देश एक बाजार में बदल गया। यह दूरदर्शी संवैधानिक क्षण था, क्योंकि हमारे राज्य स्वेच्छा से सबकी भलाई के लिए करारोपण संबंधी अपनी कुछ सम्प्रभुता छोड़ने पर राजी हो गए। जिस सरकार की एकाधिकार वादी होने के लिए आलोचना की जाती हो उसने उल्लेखनीय धैर्य और सुनने की क्षमता दिखाई- अड़ियल राज्यों को मनाया, तकलीफ उठाकर संविधान में संशोधन किए, जीएसटी काउंसिल में आम सहमति कायम की और असहमति को समायोजित किया। जीएसटी परफेक्ट नहीं है लेकिन, शुरुआत करने के लिए अच्छा है। इसके एक हफ्ते पहले हमारा 'सबसे खराब वक्त' था जब हम असहाय होकर 16 वर्षीय जुनैद खान के मारे जाने का समाचार सुना। उस पर गोमांस खाने का आरोप लगाया गया। 'वह तो सिर्फ 16 साल का बच्चा था। वे हमसे इतनी नफरत कैसे कर सकते हैं कि उसे इतनी बर्बरता से मार दिया,' उसके पिता ने पूछा था। जुनैद की हत्या अज्ञात, खून की प्यासी भीड़ द्वारा किए मुस्लिम विरोधी हमलों की कड़ी में सबसे ताज़ा मामला था। मन इन दो विरोधाभासी घटनाओं को किस तरह ग्रहण करें? चार्ल्स डिकेन्स के सामने भी इसी तरह की दुविधा थी। फ्रांसीसी क्रांति ने पुराने दमनकारी शासन का अंत करके 'उम्मीद का वसंत' दिया लेकिन, अपने पीछे मौत विनाशकारी 'हताशा की शीत ऋतु' भी लेकर आई। आज भारत में हम भी विकास और धर्मनिरपेक्षता के बीच नैतिक दुविधा में फंसे हैं। लेकिन, हमें धर्मनिरपेक्षता आर्थिक तरक्की दोनों क्यों नहीं मिल सकते? दुर्भाग्य से कांग्रेस हमें धर्मनिरपेक्षता तो देगी पर तरक्की नहीं देगी और मोदी की भाजपा तरक्की देगी पर धर्मनिरपेक्षता नहीं देगी। कांग्रेस ने ऐतिहासिक रूप से दोनों का वादा किया लेकिन, अपने त्रुटिपूर्ण समाजवादी मॉडल के कारण सिर्फ धर्मनिरपेक्षता दी। यह भी सच है कि 1991 के बाद सुधारों के सम्मिलित प्रभाव के कारण कांग्रेस ने 2003 से 2011 के बीच अत्यधिक ऊंची दर वाली वृद्धि का नेतृत्व किया। किंतु फिर यह सोचकर कि आर्थिक तरक्की समावेशी नहीं है इसने सुधार बंद कर दिए और तरक्की समानता के बीच झूठी अदला-बदली कर ली। इसका फोकस खैरात बांटने पर चला गया। जैसाकि अनुमान था आर्थिक वृद्धि 2011 में 9 फीसदी से गिरकर 4.5 फीसदी पर गई और लाखों नौकरियां खत्म हो गईं। 2014 में मतदाता उसे सत्ता से बाहर कर मोदी को ले आए, जिन्होंने नौकरियां निर्मित करके तरक्की के अधिक भरोसेमंद रास्ते का वादा किया था। कई निष्पक्ष लोगों ने धर्मनिरपेक्षता के लिए उत्पन्न जोखिम देखकर भी भाजपा को वोट दिया, क्योंकि उन्हें लगा कि देश के लोकतांत्रिक संस्थान मजबूत हैं।

उसके बाद भारत की आर्थिक वापसी धीमी हो गई और मोदी ने अभी तक वादा के अनुसार जॉब उपलब्ध नहीं कराए हैं। उनके पास अभी दो साल हैं और यदि नौकरियां पैदा नहीं होतीं तो भारत के सामने युवा आबादी का फायदा गंवाने तथा एक और पीढ़ी का बलिदान देने का जोखिम होगा। इस बीच अल्पसंख्यकों पर हमलों ने हमारी सभ्यता के बुनियादी मूल्य, अहिंसा को जखमी कर दिया है। इस तरह 2014 में मोदी को उनके विकास के एजेंडे के कारण वोट देने वाले निष्पक्ष मतदाता हताश और बेचैन हैं। नौकरियां देने और विकास में लगने की बजाय मोदी सरकार अल्पसंख्यकों के खिलाफ बढ़ती असहिष्णुता की साक्षी बन रही है। धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों की नैतिक तुलना विकास से करना अजीब लगता है। अगर यह मानकर चले कि मोदी नौकरियां देने के एजेंडे पर नतीजे देने लगे तो 2019 के चुनाव में मतदाता के सामने चुनने की यही दुविधा होगी। नैतिकशास्त्र के सिद्धांत किसी कृत्य की नैतिकता का आकलन या तो नतीजे से करते हैं

या साधनों से। किसी कर्म का आकलन उसके नतीजे से करने वाले यूटीलिटेरियन्स के अनुसार तो कोई भी नैतिक कृत्य सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक भले को बढ़ावा देता है। ज्यादातर शासक और नीति निर्माता यूटीलिटेरियन्स ही होते हैं। इनमें से एक विदुर थे, जो हमें बताते हैं कि एक अच्छा राजा गांव की भलाई के लिए व्यक्ति का और राष्ट्र के लिए गांव बलिदान दे देगा।

यूटीलिटेरियन्स मौजूदा दुविधा में विकास और नौकरियों का पक्ष लेंगे। इसके विपरीत है दार्शनिक कांट (और महात्मा गांधी) का कर्तव्य आधारित नैतिकशास्त्र, जो किसी कर्म की नैतिकता को साधनों के आधार पर तय करते हैं। उनके लिए परिणाम की बजाय साधन और इरादे का ज्यादा महत्व है। चूंकि किसी भी परिस्थिति में हत्या करना गलत ही है तो कर्तव्य आधारित नैतिकतावादी हमेशा विकास पर धर्मनिरपेक्षता को तरजीह देंगे। परंतु धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में यूटीलिटेरियन दलील भी है। सच यह है कि भारत को खतरा बाहर से नहीं भीतर से ही है। भारतीय मुस्लिम आबादी दुनिया में सबसे संयत है लेकिन, जुनैद जैसी बार-बार होने वाली त्रासदियां उसमें अलगाव पैदा करेंगी और वह अतिवादी हो जाएगा। इससे सुरक्षा का खतरा पैदा होकर भारत का भविष्य जोखिम में पड़ जाएगा। इसलिए ऐसी घटनाओं की तत्काल आलोचना कर उसे काबू में करने में मोदी की नाकामी का मतलब है अतिवादियों के हाथों में खेलना। मतदाता के सामने 2019 में धर्मसंकट होगा। जब दो कर्तव्यों में टकराव हो तो यूटीलिटेरियन नैतिकता ज्यादा उपयोगी होती है लेकिन, नैतिक दुविधा आसानी से हल नहीं की जा सकती। ऐसी उक्तियां कहना आसान है- 'नतीजे की बजाय साधनों का ज्यादा महत्व है' अथवा 'एक जिंदगी लाखों लोगों को गरीबी से बाहर निकालने से अधिक कीमती है।' लोकतंत्र में हर व्यक्ति को सारी सूचनाओं पर गौर करके चुनाव करना चाहिए। यदि किसी दिन ऐसी धर्मनिरपेक्ष पार्टी उभरे, जो नौकरियां और आर्थिक तरक्की भी लाए तो हमारी नैतिक दुविधा गायब हो जाएगी।

Date: 01-08-17

खेहर की टिप्पणी देश के नागरिकों के लिए चेतावनी

कानून के राज में यकीन करने वालों के लिए भारत के मुख्य न्यायाधीश जेएस खेहर की यह टिप्पणी कि कानून तोड़ना और अदालत की अवमानना करना हमारे खून और संस्कृति में समा चुका है, गहरा आघात पहुंचाने वाली है। उनका यह सात्विक गुस्सा है और इस पर सिर्फ कानून लागू करने वाली सरकारी एजेंसियों को ही नहीं इस देश के नागरिकों को भी ध्यान देना चाहिए। न्यायमूर्ति खेहर की इस चेतावनी को एक आदेश के रूप में लिया जाना चाहिए कि कानून का उल्लंघन करने वालों को सजा होनी चाहिए। सुप्रीम कोर्ट का गुस्सा दो मुद्दों पर है। एक तो देश में बढ़ती अराजकता और भीड़ द्वारा कानून हाथ में लिए जाने का है। दूसरा मुद्दा अदालत की अवमानना का है। अदालत अपनी अवमानना के बढ़ते मामलों से भी चिंतित है, जिसमें अपने ही न्यायमूर्ति दिनाकरन का विवाद तो है ही पूंजीपति विजय माल्या जैसे मामले भी हैं। अदालत की अवमानना बढ़ने की घटनाएं रसूखदार लोगों में कानून का भय कम होने और उससे बचने का रास्ता निकालने में महारत होने से पैदा हुई है। इस देश के जनप्रतिनिधि और अधिकारी चूंकि कानून बनाते और लागू करते हैं इसलिए वे खुद को कानून समझने लगते हैं। जबकि लोकतंत्र में किसी व्यक्ति का नहीं कानून का राज होता है। दूसरे वे अमीर लोग हैं जो कानून लागू करने वालों को खरीद लेते हैं। अगर अदालतें सख्त हो जाएं और जैसा कि हो रही हैं और न्याय की प्रक्रिया लंबी होने की बजाय शीघ्र होने लगे तो न्यायमूर्ति खेहर की भावना का आदर होने की गुंजाइश बढ़ेगी। दूसरा मुद्दा धर्म जाति से जुड़ी घृणा व्यक्तिगत अहम और आर्थिक हितों के टकराव पर होने वाले उन अपराधों का है जिन्होंने सिर्फ सार्वजनिक जीवन को असुरक्षित किया है बल्कि भारत की लोकतांत्रिक छवि को कलंकित किया है। यह स्थितियां सिर्फ मानवता के निरादर से पैदा होती हैं बल्कि कानून का राज कायम करने वाली संस्थाओं के प्रति कोई खौफ होने से भी बनती हैं। निश्चित तौर पर कानून का राज कायम करने के लिए उसके प्रति एक प्रकार का खौफ और आदर तो होना ही चाहिए उससे ज्यादा भारतीयता का दायित्वबोध भी होना जरूरी है। एक नागरिक होने के नाते हमें देश के कानून से प्यार भी होना चाहिए और उसे सफल बनाने के लिए अपना साध्य तो उचित होना ही चाहिए, साधन को उससे भी ज्यादा पवित्र रखना चाहिए।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-08-17

कृत्रिम बुद्धिमत्ता से होगा कारोबार में फायदा

आकाश प्रकाश

इस क्षेत्र में भारतीय कंपनियां पिछड़ती नजर आ रही हैं। उन्हें अपने कर्मचारियों को उचित कौशल प्रदान ही नहीं करना होगा बल्कि निवेश में बढ़ोतरी भी करनी होगी। विस्तार से बता रहे हैं आकाश प्रकाश



इन दिनों प्रौद्योगिकी क्षेत्र में कृत्रिम बुद्धिमत्ता यानी आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) की ही चर्चा है। रोज ही इस विषय पर कोई न कोई आलेख, शोध रिपोर्ट या कोई अन्य घोषणा सुनने को मिल जाती है। इसे लेकर तमाम तरह की बातें कही जा रही हैं। कोई कहता है कि उत्पादकता में बदलाव के मामले में यह खोज औद्योगिक क्रांति के समान साबित होगी और यह हमारे काम करने और जीवन स्तर को बदलकर रख देगी। एक दशक के शोरगुल के बाद एआई संबंधी तमाम प्रौद्योगिकी अब वैश्विक अर्थव्यवस्था के बड़े हिस्से में बदलाव की तैयारी नजर आ रही है। जैसे-जैसे एआई ने औद्योगिक तकनीकी क्षेत्र में प्रवेश किया है, यह आईटी सेवा प्रदाता कंपनियों के बीच विवाद का विषय बन रही है। अगर मशीनें सोच सकें और तर्क कर सकें तो फिर लोगों की आवश्यकता ही क्या रह जाएगी? देखा जाए तो यह

प्रश्न मामूली नहीं है क्योंकि 10 सूचीबद्ध सूचना प्रौद्योगिकी कंपनियों में 20 लाख से अधिक लोग रोजगारशुदा हैं और इस उद्योग का राजस्व 900 अरब डॉलर से अधिक का है।

भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र की कंपनियों के लिए तो यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण है। देश में सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र के रोजगार की गति पहले ही काफी कमजोर हो चुकी है। इसका उच्चतम बिंदु चार लाख से घटकर एक लाख पर आ चुका है। ये ऐसे रोजगार हैं जहां वेतन बहुत ज्यादा है। एक ऐसा उद्योग जो बमुश्किल चार साल पहले की 15 से 20 फीसदी की वृद्धि दर से गिरकर एक अंक में आ गया है और जिसमें सभी बड़ी कंपनियों की वृद्धि एक अंक में है तो यह प्रश्न तो बनता है कि क्या एआई आधारित समाधान इस क्षेत्र की वृद्धि दर और प्रतिस्पर्धा को आगे और प्रभावित करेंगे? सवाल यह है कि क्या उद्योग जगत में आगे और धीमापन आएगा?

पहली बात तो यह है कि एआई क्या है? सामान्य तौर पर देखा जाए तो यह मानव क्षमताओं की पांच श्रेणियों को अपने आप में समाहित किए है: (1) प्राकृतिक भाषा का प्रसंस्करण यानी (आवाज को पहचानना), (2) मशीनी दृष्टि, (3) विशेषज्ञता (आईबीएम वाटसन जैसी विशेषज्ञ व्यवस्था), (4) तार्किक क्षमता (गूगल और अल्फा गो आदि की भांति समस्या निवारण की क्षमता), (5) योजना निर्माण। दूसरा सवाल यह है कि ये सब अभी क्यों? आखिरकार एआई शब्द सबसे पहले सन 1956 में डार्टमाउथ में आयोजित एक शोध सम्मेलन में उछला था। कई गलत शुरुआत के बाद अब लगता है कि यह तकनीक सही दिशा में है। इस अवधि में क्या बदलाव आया है? दरअसल अब यह तकनीक और प्रौद्योगिकी में बदलाव पर निर्भर है। हम मशीनी शिक्षण और सॉफ्टवेयर की ओर बढ़ चुके हैं जो अपने दम पर सीख सकते हैं और नई प्रौद्योगिकी अपना सकते हैं। इन प्रशिक्षण तकनीक के लिए भारी मात्रा में आंकड़ों और गणन क्षमता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अब हमारे पास यह क्षमता है कि हम अत्यंत कम लागत में आंकड़े जुटा सकें, उनका प्रसंस्करण कर सकें और आकलन भी। लागत कम होने के कारण एआई का वाणिज्यिक इस्तेमाल और उसका क्रियान्वयन संभव हो सका है। एआई सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र की कंपनियों को दो क्षेत्रों में प्रभावित करेगा एक किफायत और दूसरा वृद्धि।

यहां किफायत से तात्पर्य यह है कि सभी प्रमुख सूचना प्रौद्योगिकी सेवा कंपनियों को अपने परिचालन और प्रबंधन में एआई का इस्तेमाल करना होगा। इससे उनके और उनके ग्राहकों के आईटी बुनियादी ढांचे और संसाधनों का किफायती इस्तेमाल संभव होगा। एक्सेंचर

कंपनी पहले ही इस बारे में बता चुकी है कि कैसे स्वचालन और एआई की बढ़ती तल उसे 25,000 रोजगार कम करने में मदद मिली है। रोबोटिक प्रोसेस ऑटोमेशन में एआई तकनीक का इस्तेमाल किया जा रहा है। देश की अधिकांश बड़ी कंपनियां पहले ही इस दिशा में बढ़ चुकी हैं।

टीसीएस ने इग्रियो प्लेटफॉर्म को अपना लिया है और इन्फोसिस ने निया के नाम से अपना संस्करण तैयार किया है। आंतरिक किफायत के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले एआई के जरिये भविष्य में आईटी सेवा क्षेत्र को चुनौती मिलना तय है। ठीक उसी तरह जिस तरह हाल के दिनों में सस्ते विदेशी संस्थानों ने सफलता और विफलता तय की। बिना एआई के हमारे पास लागत के आधार पर प्रतिस्पर्धा की वजह नहीं होगी। जहां तक वृद्धि की बात है तो यह भी स्पष्ट है कि उन आईटी सेवा कंपनियों के लिए कारोबारी अवसरों की भरमार होगी जिनके पास एआई को लेकर बेहतर समझ होगी और जो इस संबंध में जरूरी साझेदारियां कर चुके होंगे। एक्सेंचर ने अनुमान लगाया है कि एआई से 400 अरब डॉलर के कारोबारी अनुमान जुड़े हुए हैं। यह ज्यादा हो सकता है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस क्षेत्र में ढेर सारे अवसर हैं।

गार्टनर में हाल ही में एक सर्वेक्षण किया जिसमें 93 फीसदी अधिकारियों ने कहा कि वे एआई तकनीक विकसित करने में तीसरे पक्ष की मदद लेंगे। क्लाउड तकनीक के तर्ज पर हमें अब एआई के इर्दगिर्द सर्विस लाइन विकसित होती नजर आएंगी। इसके साथ ही कारोबार के नए अवसर सामने आएंगे। सूचना प्रौद्योगिकी सेवा क्षेत्र पर ए आई का प्रभाव निरंतर बढ़ेगा और इसके तमाम असर देखने को मिलेंगे। एआई के आगमन के साथ ही अधिक कौशल की मांग वाली महंगी सेवाओं का दायरा भी बढ़ेगा। इसमें सलाहकार सेवा और विशिष्ट विकास शामिल हैं। इससे अधिक जिंसीकृत सेवाओं की मांग में कमी आएगी जिनको मशीनें आसानी से अंजाम दे सकेंगी। इस मामले में सफलता का निर्माण सलाह देने के कौशल, बोर्ड की गुणवत्ता और तकनीक तथा एआई साझेदारी को लेकर विकसित रिश्तों और समझ पर निर्भर करेगी। कर्मचारियों को नए सिरे से कौशल संपन्न बनाना और उच्च कौशल वाली प्रतिभा को आकर्षित करना अहम होगा।

आमतौर पर यह माना जाता है कि प्रमुख भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी कंपनियों ने डिजिटल लहर की सवारी करने में देर कर दी। उनको अब प्रतिस्पर्धी लाभ से जुड़े बदलाव का सामना करना पड़ रहा है। अब बकि प्रतिस्पर्धी बदलाव दूर हो चला है और कम लागत वाले मानव संसाधन के बजाय नई प्रौद्योगिकी अपनाई जा रही है तो भारतीय कारोबारी इस बदलाव को अपनाने में काफी शिथिल रहे हैं। एआई के मामले में भी ऐसा ही होता नजर आ रहा है। भारतीय कंपनियों को अपना निवेश बढ़ाना होगा, उनको अपनी समझ बढ़ानी होगी और नई तकनीक का इस्तेमाल करना होगा। हम भी एआई प्रौद्योगिकी अपनाने के मामले में एकदम शुरुआती स्तर पर हैं। अभी भी हमें इस दिशा में काफी कुछ करना है। बहरहाल भारतीय कंपनियों को इस क्षेत्र में अपना निवेश बढ़ाना होगा। कंपनियों को मुनाफे के गणित में नहीं उलझना चाहिए। उनको आगे बढ़कर निवेश करने की आवश्यकता पड़ सकती है। उनको इसका फायदा बाद में मिलेगा। कंपनियों को चाहिए कि वे अपना अंशधारक आधार बढ़ाएं जो इस जरूरत को समझे और उनकी मदद करे।

Date: 01-08-17

व्यवहार में बदलाव लाने से सुलझ सकती है खुले में शौच की समस्या

सुनीता नारायण

लोगों के व्यवहार में तब्दीली क्यों आती है? क्या ऐसा शिक्षा की वजह से होता है? या फिर विकल्पों की मौजूदगी से ऐसा होता है? क्या यह किसी तरह का सामाजिक दबाव है? या जुर्माने का डर? या फिर ये सभी तथा कुछ और वजह इसके लिए उत्तरदायी हैं? जलवायु परिवर्तन या खुले में शौच पर नियंत्रण हासिल करने की कोशिश कर रहे देश के नीति निर्माताओं के लिए यह लाख टके का सवाल है। शौचालयों की बात करें तो लोगों के घरों में शौचालय बनवाना और उन्हें इनके इस्तेमाल के लिए प्रेरित करना बहुत बड़ी पहली बना हुआ है। महात्मा गांधी ने कहा था कि स्वच्छता आजादी से ज्यादा महत्वपूर्ण है। सफाई की कमी के चलते शिशुओं की मृत्यु होती है जिसे रोका जा सकता है और कमजोर तथा अल्पविकसित बच्चे पैदा होते हैं। यह स्वीकार्य नहीं है। अच्छी खबर यह है कि देश की सरकार ने 2 अक्टूबर, 2019 तक खुले में शौच को खत्म करने का महत्वाकांक्षी लक्ष्य तय कर रखा है। उस वर्ष महात्मा गांधी की 150वीं वर्षगांठ भी है। सरकार ने वर्षों तक शौचालय निर्माण के असफल प्रयास किए। आखिरकार उसने यह तय किया कि उसका लक्ष्य शौचालय बनाना नहीं बल्कि उनका इस्तेमाल

बढ़ाना है। दूसरे शब्दों में कहें तो लोगों को अपना व्यवहार बदलना होगा और शौचालयों का इस्तेमाल शुरू करना होगा। सरकार अब सर्वेक्षणों में शौचालय नहीं उनका इस्तेमाल देख रही है। यह कोई छोटा बदलाव नहीं है।

विभिन्न रिपोर्टों में कहा गया है कि शौचालय बने लेकिन उनका इस्तेमाल नहीं हुआ। वर्ष 2015 में आई नियंत्रक एवं महा लेखा परीक्षक की रिपोर्ट में पाया गया था कि सरकारी योजनाओं के अधीन बनने वाले 20 फीसदी शौचालयों में या तो ताला लगा रहता है या फिर वे भंडारगृह की तरह इस्तेमाल में लाए जाते हैं। वर्ष 2015 में एक बार फिर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय में 75 जिलों के 75,000 घरों के शौचालयों का आंकड़ा दर्ज किया गया। इसके नतीजे चौंकाने वाले रहे। सिक्किम, केरल और हिमाचल प्रदेश समेत कुछ राज्यों में 90 से 100 फीसदी शौचालय इस्तेमाल में लाए जा रहे थे। लेकिन कई राज्यों में यह इस्तेमाल अत्यंत कम था। आर्थिक रूप से विपन्न राज्य झारखंड में यह स्तर 20 फीसदी था। यहां तक कि तमिलनाडु जैसे अपेक्षाकृत संपन्न और शिक्षित राज्य में भी यह मात्र 39 फीसदी था। यह आंकड़ा सुधरेगा कैसे? लोगों के व्यवहार में इसे लेकर बदलाव कैसे आएगा? इसका संबंध विकास की राजनीति से है। इस विषय पर अध्ययन करने वाले मेरे सहकर्मियों ने पाया कि देश को खुले में शौच मुक्त बनाने के महत्वाकांक्षी लक्ष्य तय करने वाली हमारी राज्य सरकारें इस बदलाव के लिए लोगों को शर्मिंदा करने को भी एक तरीके के रूप में इस्तेमाल कर रही हैं।

राज्य सरकारें खुले में शौच को सामाजिक रूप से अस्वीकार्य बना रही हैं। हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ तथा कुछ अन्य राज्यों ने पंचायत का चुनाव लड़ने के लिए यह अनिवार्य कर दिया है कि उम्मीदवार के घर में शौचालय हो। कई जिलों में खुले में शौच कर रहे लोगों को देखकर सीटी बजाई जाती है, उनकी तस्वीरें गांव में सूचना पट्टा पर लगाई जाती हैं, उनके राशन कार्ड रद्द कर उनसे सरकारी लाभ छीन लिए जाते हैं। राजस्थान के प्रतापगढ़ जिले में इस तरह की कार्रवाई के बहुत त्रासद परिणाम सामने आए। वहां सरकारी अधिकारी खुले में शौच कर रही महिलाओं की तस्वीर खींच रहे थे। लोगों ने इसका विरोध किया और एक व्यक्ति को जान गंवानी पड़ी। जब मेरे सहयोगी महताब शाह कच्ची बस्ती पहुंचे तो उन्होंने पाया कि यह एक अवैध बस्ती थी और महिलाओं के पास खुले में शौच के अलावा कोई विकल्प ही नहीं था। वे बेहद गरीब थीं, उनके पास शौचालय बनाने के लिए जमीन तक नहीं थी और उनके पास शौचालय में इस्तेमाल के लिए पानी तक नहीं था। यहां तक कि वहां बने सामुदायिक शौचालय में भी 3,000 लोगों की जरूरत का पानी नहीं हो पाता। इसका रखरखाव बेहद खराब था।

लेकिन खुले में शौच को केवल इतने से नहीं समझा जा सकता। आखिरकार, लोग शौचालय बनवाने के पहले मोबाइल फोन और साइकिल तो खरीदते ही हैं। ऐसे में शौचालय की मांग भला कैसे बढ़े? मेरा मानना है कि इस मामले पर खुलकर चर्चा की जाए। लोगों के व्यवहार में बदलाव लाना अत्यंत आवश्यक है। साफ-सफाई की खराब स्थिति के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को लेकर भारी जागरूकता फैलाने की जरूरत है। मेरा अपना शोध बताता है कि इस लिंक को केवल नीतियों के संदर्भ में समझा जाता है, असली आंकड़ों के संदर्भ में नहीं। व्यवहार में बदलाव लाने के लिए स्वास्थ्य को लेकर जागरूकता पैदा करना जरूरी है। तंबाकू को लेकर व्यवहार में बदलाव साफ देखने को मिला है। क्योंकि अब तंबाकू के दुष्प्रभाव को लेकर लोगों की समझ एकदम साफ हो चुकी है। शौचालयों के मामले में भी ऐसा ही करने की जरूरत है। आज सरकार का स्वच्छ भारत मिशन इस बात को स्वीकार करता है और इस विषय पर सूचित, शिक्षित और संवाद को प्रोत्साहित भी करता है। लेकिन खुद सरकारी आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 2016-17 में सरकार ने इस सिलसिले में आवंटित बजट का बमुश्किल 0.8 फीसदी इस्तेमाल किया। जबकि दिशानिर्देश 8 फीसदी इस्तेमाल के थे। शौचालय बनाने में रियायत पर्याप्त नहीं है। लोगों का व्यवहार बदलने के लिए काफी कुछ किया जाना बाकी है। महताब शाह कच्ची बस्ती जैसी जगहों पर सरकार को सस्ते सामुदायिक शौचालय बनाने होंगे जो साफ-सुथरे और बेहतर रखरखाव वाले हों। इस दौरान पानी और शौचालयों के संबंध का भी ध्यान रखना होगा। इसमें दो राय नहीं कि सामाजिक दबाव काम करता है लेकिन हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि हम पीड़ितों को दोषी न ठहराएं या उनका मजाक न उड़ाएं। ऐसा करने से हम स्वच्छ भारत नहीं बल्कि एक शर्मिंदा मुल्क तैयार करेंगे।



Date: 31-07-17

From plate to plough: Everybody loves a good crop

The states need to pull up their socks, make farmers stakeholders, to ensure success of the Pradhan Mantri Fasal Bima Yojana

Written by Ashok Gulati , Siraj Hussain Gulati is Infosys Chair Professor for Agriculture and Hussain is former Secretary of Agriculture (GoI) and currently Visiting Senior Fellow at ICRIER

Recent floods in Gujarat, Rajasthan and Assam show that even in an otherwise normal monsoon year, farmers in certain pockets could still suffer due to natural calamities. The droughts of 2014-15 and 2015-16 exposed that the existing crop insurance schemes were not enough to alleviate farmers' woes. The sums insured under National Agriculture Insurance Scheme (NAIS), modified NAIS, and Weather Based Crop Insurance Scheme (WBCIS) were too low, as premiums were kept low. Further, the compensation was too meagre, and the long wait which the farmers had to go through meant that the relief wasn't meaningful. So, governments often used the National Disaster Relief Funds to address the situation. Unfortunately, it was not based on any robust scientific system and had its own loopholes.

The prime minister realised that and in kharif 2016, he announced a revamped Pradhan Mantri Fasal Bima Yojna (PMFBY), hoping it to be a game changer. The PMFBY raised the sums insured to realistic levels, basically to cover the cost of cultivation of farmers. The premiums were heavily subsidised by the Centre and the states in equal proportions, with farmers paying only 2 per cent of the premium for kharif and 1.5 percent for rabi (for horticulture crops it was 5 per cent). Farmers found the PMFBY attractive. Consequently, in the very first kharif season (2016), area (in ha) and number of farmers covered under PMFBY, both increased to 37.5 million. It was 47 per cent higher in terms of number of farmers, and 38 per cent higher in terms of area, over NAIS and MNAIS schemes of kharif of 2015, a drought year. However, if compared to a normal kharif year, say 2013, the number of farmers opting for the scheme increased by 210 per cent in kharif 2016, and the area covered increased by 126 per cent. The sum insured on per hectare basis under the PMFBY increased by 51 per cent over kharif 2015. The number of non-loanee farmers opting PMFBY, as per the ministry's communication, also increased by about 23 per cent, driven primarily by Maharashtra. All these indicators show that the PMFBY is moving at a good pace and in the right direction. But despite the increasing coverage, the premiums, as percentage of sums insured, increased. With greater competition, there is surely scope for negotiating lower premiums. But the litmus test of any crop insurance scheme is how fast it can settle the claims of farmers. It is here that the governance of the state is tested. There are three critical steps in this process: First, the state has to notify the crops, make clusters of districts, determine the sums to be insured based on district level committees, and invite tenders from insurance companies; second, the state and the Centre have to pay premium to the companies providing insurance; and third, in case of crop damages, quickly assess the damages and ask companies to pay the claims of farmers. Unfortunately, in this entire process, farmers have almost no role. That's the reason why its implementation and effectiveness has fallen between the cracks. If states delay notifications, or payment of premiums, or crop cutting data, there is no way

companies can pay compensation to the farmers in time. It is exactly this slow pace and casual attitude of several state agencies that delayed compensations to farmers for losses in kharif 2016, and it may happen again in kharif 2017. There is talk in certain quarters that the government is throwing away money to private insurance companies as claims are much lower than premiums paid. It may be noted that in any crop insurance business, companies make profits during normal times and incur losses during droughts and floods. So any meaningful comment on premiums and claims should look at at least a three to five year cycle. In any case, just for FY2017, the total premium paid by the government and farmers is Rs 22,345 crore both for kharif and rabi, while the estimated claims of kharif 2016 alone will exceed Rs 10,000 crore, of which Rs 4,203 crore has been paid. In Tamil Nadu, which was affected by the worst drought of the century, Rs 976 crore was paid as premium in rabi and claims of Rs 1,213 crore have been paid.

It may be noted that most states did not claim any amount under on-account claim for mid-season adversity, which allows 25 per cent payment for quick relief to farmers. Similarly, most states failed to provide smartphones to revenue staff to capture and upload data of crop cutting, which continues to come with enormous delay. There is hardly any use of modern technology in assessing crop damages. With the picking up of the PMFBY, area under the WBCIS reduced from 12 lakh ha in 2015-16 to 1.8 lakh ha in 2016-17. Both Rajasthan and Maharashtra, leaders of WBCIS, delayed finalisation of their tenders and received high actuarial rates. The pilot scheme of unified package insurance (UPIS) in 50 districts has not taken off. So what is the future of crop insurance in addressing farmers' woes from natural calamities? The PMFBY has moved in the right direction and made substantial progress in terms of coverage, but failed in quick dispensation of claims to farmers. The primary reason behind this failure is the lethargy and casual attitude of state agencies. If the PMFBY has to succeed, farmers must have a bigger stake in its functioning. There is an urgent need to link the insurance database with Core Banking Solution (CBS) so that when premium is deducted from a farmer's bank account, the bank sends him a message informing about the premium, sum insured and name of insurance company.

IRCTC has a similar system in place for railway tickets and there is no reason why our technology-savvy banks and insurance companies cannot do it quickly. Currently, several loanee farmers may not even be aware that they are insured. If the system remains locked between state agencies and insurance companies, chances are that farmers will get short changed. It is time that the PM makes this flagship program farmer-centric with effective implementation. It can pay rich dividends.

Date: 31-07-17

The right to be left alone

Privacy is not just about Aadhaar or data protection; it's about letting people make free choices

Written by Alok Prasanna Kumar The writer is senior resident fellow at the Vidhi Centre for Legal Policy, and is based in Bengaluru

The first thing to know when talking about privacy in India is that a majority of the population does not always understand what it means. It is at times confused with shame. It's also confused with the emotion

we feel when we do something that does not meet our standards or our sense of what is right. Modern Indian languages do not seem to have an exact word which captures the meaning of privacy; they're usually some variation of the words for isolation, intimacy or secrecy, once again hinting at a conceptual confusion. This explains the reactions of many who wonder what's the big deal about privacy because they have nothing to hide from the government anyway. Privacy, however, is not only about hiding something or keeping it secret. It is, at its core, the right to be left alone. It doesn't mean that one is withdrawing from society. It is an expectation that society will not interfere in the choices made by the person so long as they do not cause harm to others. It means that one's right to eat whatever one chooses, the right to drink what one chooses, the right to love and marry whom one chooses, to wear what one chooses, among others, are rights which the state cannot interfere with.

In a society where adults do not necessarily exercise most of these choices of their own free will (either because of family, caste or societal pressures), it is natural that the very concept of privacy seems incomprehensible. If you have grown up in a society where everything you do is dictated by someone else, and the cost of disobedience is high, to have the freedom to choose what you will in such important matters sounds like fantasy. But it is also a common misconception that the non-well-off in India do not know or care about privacy. Millions of men and women push back daily against the oppressive hold of their families and communities, and fight for the freedom to make their own choices. They may not have the right word for it, but they are creating space for themselves to exercise the right to privacy. It is in this context that one must understand the hearings in the Supreme Court on the right to privacy. Although the nine-judge bench has been constituted to decide whether there is a fundamental right to privacy protected under the Constitution in the specific context of the Aadhaar case, privacy has many more dimensions than just data protection or surveillance by the state. A fundamental right to privacy, enshrined and protected in the Constitution, would mean that all persons have the right to be left alone by the state unless such intrusion is necessitated by a just, reasonable, and fair law.

The nine-judge bench was necessitated in the first place because while multiple judgements have held that there is common law right to privacy (claimed against other individuals and entities), there was doubt as to whether such a right could be claimed against government. Obviously, the Constitution does not use the word "privacy" or we wouldn't be having these hearings. Where, then, does the right to privacy find a place in the Constitution?

To answer that it is necessary to go deep into what is meant by a fundamental right. At their core, such rights can be said to be the lines drawn by the Constitution delineating boundaries for the government's actions. Such boundaries necessarily imply, the petitioners' counsels have argued, that the Constitution guarantees that individuals have a right to be left alone by the state on matters of individual choice. They have argued that the earlier decisions in *MP Sharma v Satish Chandra* (1954) and *Kharak Singh v State of UP* (1962) were rendered relying on a narrow and pedantic interpretation of fundamental rights — an approach that has been discarded by the Supreme Court since the 1970s. The Union government has argued that it does not think that the right to privacy is a fundamental right protected under the Constitution. Attorney General K.K. Venugopal has argued that while the right to privacy may be protected as a common law right or some element of it part of another fundamental right, by itself, it could not per se be guaranteed as a fundamental right. The arguments of the Union government and state governments supporting it have been premised on an "originalist" interpretation of the Constitution — that the framers never intended privacy to be a fundamental right available to citizens. Given the Supreme Court's recent approach where it has not been hesitant to depart from the narrow interpretation of the Constitution when the situation demands it (such as appointment of judges), perhaps this approach may not find much judicial favour. Far more worrisome is the argument that

privacy is only the preserve of the well-off and the elite, and protecting it through law and legal institutions may stand in the way of “development” and poverty alleviation. This not only misunderstands what the right to privacy means but underplays its role in allowing individuals to make free choices. It is an argument of a paternalistic and patriarchal state that knows what’s good for you and won’t let you make your own choices. It also clashes with the ethos of a limited government enshrined in the Constitution.

A nine-judge bench of the Supreme Court holding that the Constitution guarantees a right to privacy will, however, only settle one issue — that there is a right to privacy guaranteed against state intervention. To what extent this right can be claimed and in what circumstances the state may be allowed to intrude will have to be decided on a case by case basis. At most, the court’s judgment may outline the principles on the basis of which judicial review will be carried out, but it cannot be expected to prescribe an answer for every foreseeable situation. Whatever the final judgment, the implications will go far beyond just the Aadhar scheme and law. The law laid down by the Supreme Court on privacy could affect the course of development of the law governing reproductive rights, gay rights, beef bans, prohibition, among a host of other issues that the Indian state and society are grappling with

Date: 31-07-17

At The Half-way Mark

The Swachh Bharat Mission has laid the foundations for a faster pace of change

Written by Naina Lal Kidwai The writer is chair, India Sanitation Coalition

India is midway into the Swachh Bharat Mission (SBM). Since its inception on October 2, 2014, the ministries of Urban Development and Drinking Water and Sanitation have been spearheading the programme, with implementation happening at the state level. The key differentiator with the SBM is the prime minister’s ongoing focus which has percolated to district and block officials. It has also captured the imagination of the people of the country.

The SBM has witnessed several notable achievements in reducing open defecation thanks to the focus on behaviour change, need-based capacity building and constant measuring of outcomes. The last three years have seen an increase from 42 per cent to 65.02 per cent in national sanitation coverage. Five states, 149 districts and 2.08 lakh villages have already been declared Open Defecation Free (ODF). Nearly 22 per cent of the cities and towns have been declared ODF; 50 per cent of the urban wards have achieved 100 per cent door-to-door solid waste collection; and over 20,000 Swachhagrahi volunteers are working across urban local bodies, and over a lakh are working in rural India. The number of schools with separate toilet facilities for girls has increased from 0.4 million (37 per cent) to almost one million (91 per cent).

There have seen numerous analyses, discussions and conclusions about the SBM. One recent media report mentions that the government is not measuring ODF, and rather tracks funds spent on latrine construction while putting out numbers about sanitation. This is not entirely correct, as there have been efforts to measure ODF. Of course, the modalities for the same can be debated and there may well be scope for improvement in the measurement protocols. Several sectoral experts are members of the

Empowered Working Group (EWG), which is responsible for examining the survey methodology and setting protocols for the government's upcoming national survey through the Independent Verification Agent (IVA) under the World Bank project.

One of the key differentiators of the SBM programme (and rightly so) is the decision by the government in November 2014 to make ODF the success parameter. It was made clear by the ministries concerned that progress will be tracked and evaluated only on this basis. This caused a paradigm shift in the thinking of the implementers as ODF measurement has a direct relationship with behaviour change. This policy shift led to ODF Monitoring Committees (or Nigrani Samitis) being formed at the village level, reflecting the community ownership of SBM. The monitoring committees' key tasks were not to count the number of toilets but to ensure that no individual from the village resorts to open defecation. Anecdotal information and feedback from NGOs and others in the field suggests good progress on this front. Sanitation, in a diverse country like India, encompasses a number of factors which are important determinants for the success of the mission. It has a direct relationship to caste, creed, religion and gender. A successful sanitation programme needs to address such factors, which makes achievement of safe sanitation a very complex exercise. Additionally, India has a large number of disabled people whose needs require customised solutions. Despite these challenges, we have seen a marked improvement in sanitation coverage since the launch of SBM.

Achieving ODF status alone is not sufficient for the success of SBM. Attention to the complete sanitation cycle is required, where toilets not only need to be built and used but the waste generated also needs to be collected and treated properly. The India Sanitation Coalition advocates safe and sustainable sanitation including design, implementation and practice. This is evident in the tag line BUMT (Build, Use, Maintain and Treat) to complete the entire sanitation chain. Achieving ODF is the collective responsibility of the entire nation, not just the government. We have now reached a stage where the need for BCC (Behaviour change communication) has been recognised.

Turning a large and populous country like India around is not an easy task. However, in less than three years we see that India is already course correcting and with the momentum building, the pace of change going forward will be much faster.
